वेश्या

एक समस्या मूलक कविता

बा० को० नारायण

प्रकाशक
चम्पा नारायण
१/१ए, राय लेन, कलकत्ता-७

दिसम्बर ३, १९५८
प्रथम संस्करण

अस्सी नये पैसे

मुद्रक
पं० बृजलाल पाण्डेय
युनाइटेड कमर्सियल प्रेस लि०
१, राजा गुरुदास स्ट्रीट, कलकत्ता-६

वेश्या

"अपनी इज्जत अस्मत को भी जब आज तलक
रख सकी सुरक्षित नहीं—सुरक्षित क्या रक्खूं ?
अधिकार छपाने का—वह भी इस कविता का—
जब जीने का अधिकार न रक्षित, क्या रक्खूं
एकाधिकार संरक्षित कर इस रोने का ?
ऐसा इसमें क्या रक्खा है जो लोभ करूँ—
जब छिपा हुआ तन भी न छिपा पाई जग से
तब छपा हुआ यदि छपता है, क्यों क्षोभ करूं ?"

मैं कीमत ले यह तन देती
जिसका जी चाहे, वह ले ले
बन्धन प्रति-बन्धन से प्रमुक्त
जो चाहे जी भर कर खेले
कुछ चाँदी के टुकड़े देकर ।

विश्वासहीन निश्वासवान
उत्तेजक चुम्बन, भुज बन्धन
जीवन विहीन यह प्रणय-दान
मैं देती रहती हूँ सबको
कुछ चाँदी के टुकड़े लेकर
जिसका जी चाहे वह ले ले
मुझको मेरी कीमत देकर ।

जिसमें न सत्य का लेशमात्र
ऐसा वंचक बाना पहने
कहने को मैं हँस लेती हूँ
लेकिन लगता धू धू दहने
अन्तर मेरा; पर छोड़ उसे
रहने को हृत्तल में अनन्त
मैं बनी ठनी बाहर आती
अन्तर-ज्वाला का वहीं अन्त
कर मान मानिनी सा करने
दिखलाने अपने हाव भाव
इठलाने इतराने हँसने
पर सब में होता है बनाव ।

मैं स्वयं ठगी रह जाती हूँ
मैं स्वयं भ्रमित हो जाती हूँ
जब देखा करती अपने को
तब खुद में खुद खो जाती हूँ

यह नहीं जानती कैसे मैं
कर पाती हूँ इतना बनाव
यह नहीं जानती कैसे मैं
कर जाती हूँ इतना दुराव
अपने ही से; जब एक ओर
उर अन्तर में भट्ठी जलती
औ' अपर ओर मदमस्त बनी
खुद तक को पद-पद पर छलती
चलती रहती—रुकती न कहीं
थकती न कहीं अपने पथ पर—
जिसकी मंजिल के पग-पग से
हूँ पूरी परिचित मैं चल कर—
उस पर बढ़ती हूँ सज धज कर
विक्रय करने बन्धन विमुक्त
अपने यौवन की कुछ घड़ियाँ
मदिरा-मज्जित उन्मत्त मुक्त।

उस वक्त सुनाई देता है
अन्तर का दर्द भरा क्रन्दन
जिसमें रोता है विगत काल
—उल्लास भरा शैशव यौवन—

मेरे बीते सुख के मज़ार
पर पटक पटक सर बार बार
लेकिन इतना अवकाश कहाँ
जो बैठ करूँ उस पर विचार !

मैं बढ़ चलती अपने पथ पर
कुछ चाँदी के टुकड़े लेने
अपने शरीर का मोल तोल
कर ग्राहक के हाथों देने;
जिनकी समाज शासित लिप्सा
अवदमित-रुद्ध प्रतिबन्ध - युक्त
मुझको क्रय करके हो जाती
प्रतिशोध-पूर्ण प्रतिबन्ध-मुक्त ।

उन निडर मुक्त उन्मत्त जनों
को स्वयं बेच अपना शरीर
अपनी आँखों देखा करती
अपना नुचना भूखे अधीर
उद्धत नर-पुंगव के हाथों !

अपनी बोटी मैं काट काट
अपनी रोटी के बदले में
अपने हाथों खुद बाँट बाँट
इस शुचि समाज के पुरुष सिंह
की क्षुधा शांत पहले करती
फिर बोटी के बदले रोटी
ले स्वयं पेट अपना भरती—

लेकिन मैं तो हूँ पतिता ही ।
मेरा शरीर मेरा यौवन
है पूत पुरुष की क्रीड़ा का
बस केवल वैकल्पिक साधन;

जिसको, जब जिस क्षण वह चाहे
ले मोल खुले बाजार बीच
चाँदी के टुकड़ों के बदले
ले तोल खुले बाजार बीच।

नारी के तन के गारे से
प्राचीर खड़ी, पावन समाज
कर, नारी को रक्षित करता।

उसको सिखलाता लोकलाज
निर्लज्ज बना कर उसको ही
वह खुले भरे बाजार बीच
उससे खरीदता लाज शर्म
का रक्त; जिसे फिर सींच-सींच
कुल की शुचिता के पौधों पर
वह कहता गर्वोन्नत होकर
उसका कुल है बहुत उच्च औ'
उसका कुल है बहुत उच्चतर!

शुचि समाज के भव्य-भवन की
मैं अनजानी गन्दी नाली
मेरा पेशा छिपे छिपे बस
गन्दा मल ले जाना खाली ।

रजनी के तम-पट में सिमटे
रजनी के तम सा लिए हृदय
आते हैं यौवन के क्रेता
प्रति पद कलंक से मुक्त अभय
मुझको पसन्द करने, लेने
दो चार घड़ी का आस्वादन
प्रतिफल विहीन सस्ता ; सुन्दर
बेलाग-दाग का कल क्रीड़न;

जिसमें क्रीड़ा ही उधर भार
जिसमें पैसा ही इधर प्यार
इस क्रीड़ा पैसे के विनिमय
में करती अपना रोजगार ।

अपना सौदा अपने हाथों
अपने घर में अपना विक्रय
जो भी चाहे कर सकता है
मुझ से मुझ को कीमत दे क्रय !

मैं एक खुला बिकता सौदा
मुझ पर न किसी का प्रतिबन्धन
मेरा शासक मेरा अभाव
मेरा पोषक मेरा जीवन !

मैं अपना जीवन बेच-बेच
पाला करती अपना जीवन
जीवन खा-खा कर जीती हूँ
जीवन मेरा—मेरा जीवन !

जीवन के बदले में जीवन
मेरा पलता है इस पर भी
प्रतिबन्ध लगाना चाहो तो
मैं हूँ राजी; लेकिन, फिर भी
तुम इतना तो सोचो समझो
यह कैसा न्याय तुम्हारा है,
हक जिन्दा रहने का भी क्या
दुनिया में नहीं हमारा है ?

कर्मठ के ही लिए कौन सा
इज्जत से दो मुट्ठी दाना
कमा सके वो ऐसा अब तक
बना सके हो ठौर ठिकाना ?

बेकारी के इस पिशाच से
उनकी रक्षा भी क्या तुमने
अब तक कर दी, जो सक्षम हैं,
जो शिक्षित हैं; या फिर तुमने—

सिर्फ हमारा ही हित सोचा
सिर्फ हमीं पर दया द्रवित हो
आतुर उत्सुक हुए और बस
रच विधान करुणा विगलित हो
लगे हमारा ही हित करने
तुम सुधार का बीड़ा लेकर।

एक रात में हम लोगों को
बेघर औ' बेरोजगार कर—

वीतरागिनी बना रहे हो।
इज्जत से रहने को कहते
उस समाज में उन लोगों में
जिनमें हम लोगों के रहते
भी अब तक थी नहीं सुरक्षित
पुरुष-पुंगवों के हाथों से
नारी की यह इज्जत अस्मत

और आज उनके हाथों में,
वहाँ भेज तुम हमें, सोचते
हो इज्जत से हम रह लेंगी !
उन लोगों के अत्याचारों
को अपने ऊपर सह लेंगी--

और टलेंगी नहीं जरा भी
जरा नहीं विचलित होंगी हम !

पर ऐसा ही होता भैया,
तो फिर सोचो जरा तुम्हीं हम
इस दरख्त पर नहीं लगी थीं
इस दरख्त पर नहीं फली थीं
इस दुकान में, इस मकान में
तो हर्गिज हम नहीं पली थीं ?

हम लोगों का भी था कोई
अपना घर, अपने घर वाले
जिन लोगों की छाया में पल
हम लोगों ने होश सम्हाले--

हम लोगों का भी कोई था
कुल-कुनबा-इज्जत-समाज, जिस
की चक्की के बड़े-बड़े उन
दो पाटों के बीच कभी पिस
कर निकली हम; हम न अपरिचित
उस समाज से, उस गिरोह से
जहाँ भेजने को वापस तुम
उत्सुक इतने हो; बिछोह से
उसके हम भी नहीं हुईं खुश।

कभी नहीं यह हमने चाहा
इस जीवन में रह कर भी सच
हमने इसको नहीं सराहा !

लेकिन विवश पेट की भूखी
नारी, निर्बल एकाकी हम
सबल गठित उस पुरुष वासना
के सम्मुख झुक गईं—गिरीं हम।

इस झुकने के, इस गिरने के
बदले में, बस, कर न गईं हम
आत्मघात खुद या फिर दुख से
स्वयं तड़प कर मर न गईं हम।

दोष अगर है, तो बस इतना
हम लोगों का, हम जीती हैं;
दोष अगर है, तो बस इतना
नीलकण्ठ बन कर पीती हैं,
उस समाज का कालकूट विष;
जिसने कुचल पीस कर हमको
जले कटे पर नमक छिड़कने
आज यहाँ भेजा है तुमको;
जो तुम हमसे यह कहते हो
वापस वहीं चली हम जाएँ
और उन्हीं में बस कर उनसी
भली, नेक, अच्छी कहलाएँ।

पर; खाकर तुम कसम कहो सच
भले, नेक आदम के जाए
अब तक सुने कान से कितने,
कितने कहो देख कर आए
उस समाज में; जहाँ भेजने
हमको व्याकुल तुम उतावले;
इतना वक्त न इधर गवाँकर
उधर लगाते अगर बावले! —

"जहाँ भूख के मारे प्राणों
को तन में अटकाना मुश्किल
और तनज को सूखा चिपटा
तन दे दे बहलाना मुश्किल !

"जहाँ जवानी के शैशव की
अनजानी गलती के बदले
घर से छिप कर चल देती है
तीन मास का छिपा पेट ले !

"जहाँ जिस्म ढकने का चिथड़ा
भी मिलता है, तभी माँग कर
जिसको ढकना है उसको ही
दे दिखला पहले उघाड़ कर !

"जहाँ नौकरी छूट न जाए
केवल इस डर से, दबाव से
अपना तन नुचवाना पड़ता
बिना दाम दर और भाव के !"

बिना दाम-दर और भाव के
ही दब, जब नुचवाना तन हो;
तब यह पेशा बुरा कहो क्या ?—
हों स्वतन्त्र जिसमें हम तन को
हों स्वतन्त्र जिसमें यौवन को
कर मोल भाव दर दाम ठीक
अपनी मर्जी से बेच सकें
इस खुले भरे बाजार बीच ।

फिर भी प्रतिबन्ध लगाओगे
तुम यों हमको विस्थापित कर
स्थापित करना चाहोगे यदि
तो वह भी है स्वीकार; मगर—

टूटे पत्ते हम हैं, हमको
उस दरख्त पर जा चिपकाना
जिस दरख्त से टूट चुकी हैं,
वापस कहीं लगा दिखलाना—

बोलो कैसे सम्भव होगा ?
मगर नहीं; है सब कुछ सम्भव
प्रबल पुरुष के लिए यहाँ पर
चिपकाना भी नहीं असम्भव
प्रगतिशील औ' प्रखर सुधारक
कहलाने के यश - सरेस से
उसी जात के, उसी पेड़ पर,
उसी डाल में——उसी वेष में !

लेकिन भैया, जीवन भर तो
नहीं पास तुम रुके रहोगे,
प्रति पल-पल पर उठने वाली
उस अँगुली से भला कहोगे
कैसे कुछ तुम ?——अच्छा यह भी
हिम्मत कर यदि सब हम सह लें
उसी पेड़ पर, उसी डाल में,
उसी वेष में भी हम रह लें

तब भी क्या लगता है तुमको
रह पाएँगी वहाँ सुरक्षित
प्रबल - प्रभंजन - पुरुष - वासना
के झोंकों से, जहाँ न रक्षित
उगे पत्र हैं — सच सच कहना
(हम चिपकी कब कहो सुरक्षित ?)
वह भी उस दिन, जिस दिन होगी
नहीं पेड़ की रक्षा के हित
यह ऊँची प्राचीर वहाँ पर,
हम लोगों के तन से निर्मित;
जो पहले झोंके खुद पर सह
करती है झंझा को परिमित।

इतना सबके होते भी जब
नारी केवल मात्र भोज्य है,
तब भूखों की भूख, कहो कब
भेद करेगी—यह अभोज्य है
और भोज्य है ? इसीलिए तो
कहती भैया, हमें छोड़ दो—

हम लोगों की हालत पर ही,
और इधर से उधर मोड़ लो
अपने मुँह को। हमें छोड़ दो,
हम अबला हैं और विवश हैं;
वर्ना, अपना जिस्म बेचने
की बोलो कब किसे हवस है ?

जो तुम उत्सुक आज कराने
को हम से हो; नहीं नया है।
यह तन मेरा, इस कूचे से
पहले भी इक बार गया है !
उस समाज में, उन लोगों में,
किसी एक की बन घरवाली;
जहाँ रात दिन ताने सुन-सुन
भी तन की, की थी रखवाली
एक साल तक; और एक दिन
(कहते भी शरमाती हूँ मैं)
मेरे बूढ़े ससुर मुझे आ
कहते हैं शरमाती हूँ मैं—

भला सामने क्यों उनके यों ?
क्यों न उन्हें भी खुश कर देती;
मेरा क्या ?——मैं सर्व भोगिनी
खुद की सास न क्यों बन लेती ?
जरा देर को ! और पकड़ कर,
ससुर देव ने बन्द कक्ष कर
चिल्लाने से पहले मुँह भर-
कपड़े से; फिर बाँधा कस कर
हाथ, पीठ पीछे मरोड़ कर
और पटक कर वहीं धरा पर
अपने बेटे की जाया से——
प्रबल पुरुष ने सभी लिया कर
भला बुरा जब, मुझ से बोले;
"मुँह से बोली यदि तू कुछ भी
उससे, तो फिर बुरा न मुझसा !
सोच समझ ले तेरा कुछ भी
भला करेगा कौन भरोसा ?"

और शाम को वे लौटे जब
जानें उससे पहले ही कब
ससुर देव ने पढ़ा-लिखा सब-

दिया उन्हें था; वे बोले बस,
तुझे निकालूँ धक्के देकर
इस से अच्छा अभी इसी दम
तू खुद अपना मुँह काला कर !

रही चीखती; लेकिन मेरा
एक शब्द भी उनके मन पर
कसमें खा, रोने चिल्लाने-
पर भी पाया नहीं असर कर !

वापस मैं इस मण्डी में आ
लगी बेचने तन की बोटी
और उसी पैसे से देती
पापी क्षुधित पेट को रोटी !

हम राजी हैं हमें जहाँ तुम
चाहे रक्खो—चाहे भेजो
हम अच्छी भी रह जाएँगी
पर पीछे हैं पड़े हुए जो
पुरुष भेड़िए, वे क्या हमको
कहीं चैन से इस जीवन में
इज्जत से रहने भी देंगे—
खास तौर से इस यौवन में !

हर्गिज नहीं; किन्तु जब जिद है
हम प्रस्तुत हैं।—मगर दीखता
साफ हमें है, भीख माँगता
ढला जिस्म ले यहीं चीखता
एक एक पैसे की खातिर
दर दर पर वह आने वाला
जीर्ण बुढापा; लेकिन उसकी
कोई भी सुध लेने वाला
प्रगतिशील उद्धारक उस दिन
नहीं मिलेगा—और मिलेगा
यदि कोई तो "भीख माँगना
बुरी बात है" यही कहेगा !

और दीखता साफ मुझे है—
नब्बे प्रतिशत इस सुधार का
(इस आग्रह का) भी केवल है
दमित वासना के उभार का
परिचायक भर और प्रपोषक
काम वासना का उच्छृङ्खल
जो 'केवल उपकार हेतु' कह
तुम को तुम से आज रहा छल!

पर, केवल उपकार नहीं यह
इतना तो तुम खुद पहचानो;
इसके पीछे छद्मचारिता
छिपी हुई है मन की; मानो!

खैर, तुम्हें कुछ समझा पाऊँ
इतना मेरा ज्ञान नहीं है;
लेकिन साफ-साफ मैं कहती
इतना मेरा ध्यान नहीं है
तुमको जितना तुम बतलाते
और चीखते चिल्लाते हो
तुम दुखियों के नहीं हितैषी
उतने जितना दिखलाते हो ।

यह मेरे तन का यौवन है
जो तुम को बरबस करता है
सिर्फ हमारे ही हित की जो
यों चिन्ता मन में भरता है !

वर्ना क्या दुखिया कमती हैं
इस दुनिया में—इस समाजमें ?
भूखे पेट नहीं सोता क्या
कोई बोलो इस स्वराज में !

फिर हम लोगों के ही पीछे
लाठी ले क्यों पड़े हुए हो !
हम लोगों के ही सुधार का
बीड़ा ले क्यों खड़े हुए हो !

करो तुम्हारा जो जी चाहे
हम राजी हैं—हम प्रस्तुत हैं
पुरुष प्रबल की सबल लालसा
के सम्मुख हम मस्तक-नत हैं !

उस अनादि युग के शैशव से
जाने अब तक कितने हमने
कष्ट सहे हैं, जुल्म सहे हैं;
जिनके बदले भी जब हमने
नहीं कहा कुछ तो अब हम क्या
भला कहेंगी ?—और कहेंगी
ही यदि हम तो फुरसत सुनने
की कब किसको यहाँ रहेगी ?

तूती सी आवाज हमारी
नक्कारों में कौन सुनेगा ?
और सुनेगा भी कोई तो
कौन सुनेगा ?—पुरुष सुनेगा !

मगर पुरुष तो पहले ही से
बेचारा हो करुणा विगलित
सोच रहा है सिर्फ हमारा
ही केवल बस एक मात्र हित !

—दया द्रवित हो ऊपर नीचे
लोक सभा में, राज्य सभा में,
जिला सभा में, नगर सभा में,
ग्राम सभा में, डगर सभा में,
अपने घर में, अपने मन में,
मन के भी उस अन्तस्तल में;

किन्तु वहाँ भी दमित वासना
छद्मचारिणी के ही छल में
वह पड़ता है; और स्वयं तब
खुद को छल कर चेतन मन से
अवचेतन की भूख मिटाता
हम लोगों के हित चिन्तन से!

और उन्हीं भूखों के हाथों
आज हमारी रोजी किस्मत
सौंप रही हूँ — जिनके हाथों
पहले ही से इज्जत अस्मत
सौंप चुकी थी। करो तुम्हारा
जो जी चाहे, प्रस्तुत हैं हम
पुरुष प्रवल की सबल लालसा
के सम्मुख नत मस्तक हैं हम !

दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्त्ता की संख्या Borrower's No.
– JAN 19[illegible]			